9 | पर्युषण और केशलोच

कब और क्यों?

प्रश्न - पर्युषण अर्थात् संवत्सरी पर्व कब करना चाहिए और उस प्रसंग पर केशलोच करने का क्या उद्देश्य है? क्या यह सबके लिए अनिवार्य है? यदि किसी विशेष परिस्थिति में लोच न किया जा सके तो क्या वह श्रमणसंघ में नहीं रह सकता? केशलोच के संबंध में प्राचीन और आधुनिक परंपरा में क्या कुछ अंतर पड़ा है? यदि अंतर पड़ा है तो वह क्या है?

केशलोच की सर्वमान्यता

उत्तर- प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। समाधान के लिए चिंतन की गहराई में उतरना होगा, प्राचीन परंपरा और शास्त्रों एवं ग्रंथों का आलोडन भी करना होगा। यह एक नाजुक सवाल है। इसे यों ही चलती भाषा में इधर-उधर की दो चार बातें कह कर नहीं हल किया जा सकता।

जैन श्रमण-परंपरा में केशलोच की व्यापक परंपरा है। श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथ आदि नई-पुरानी सभी शाखाओं में केशलोच की सर्वमान्य मान्यता है। दूसरी बातों में कितने ही मतभेद हुए हों, कितनी ही पुरानी परंपराएँ टूटी हों और नयी बनी हों, परन्तु केशलोच की मान्यता में कोई उल्लेखनीय एकांत अंतर नहीं आया है। सभी परंपराओं में इसके लिए 'हाँ' है, 'ना' नहीं है।

केशलोच का महत्त्व

जैन श्रमणों के क्रियाकाण्डों में केशलोच एक कठोर क्रियाकाण्ड है।[1] अपने हाथों से अपने शिर के बालों को नौंच डालना, एक असाधारण साहस की बात है। यह देहभाव से ऊपर उठने की स्थिति है। तितिक्षा की, कष्ट सहन की चरम प्रक्रिया है। एक युग था, जब साधक शरीर की मोह-ममता से परे होता था, स्वयं कष्टों को निमंत्रण देकर उन्हें सहता था और अपनी अनाकुलता एवं धृति की परीक्षा करता था। अपने किसी कार्यविशेष की पूर्ति के लिए जनता से किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह के सहयोग या सेवा की अपेक्षा नहीं रखता था। अधिक से अधिक स्वाश्रयी रहने की उसकी भावना थी। अतः वह केशकर्तन की समस्या का हल भी स्वयं बालों को उखाड़कर कर लेता था। जैन साधक के लिए केशलोच बाह्य तप है, परंतु वह अंदर के समभाव, कष्टसहितष्णुता, धैर्य, अनाकुलता, अहिंसा एवं स्वतंत्र जीवन आदि के परीक्षण की एक कसौटी भी है, अतः वह बाह्यतप की दृष्टि से अनिवार्य नहीं होते हुए भी साधना का एक अनिवार्य अंग है, अनिवार्य नहीं तो अनिवार्य जैसा अवश्य है।

जिनकल्प और स्थविरकल्प

प्राचीन काल में जैन श्रमणों में दो परंपराएँ थीं–एक जिनकल्प परंपरा और दूसरी स्थविरकल्प परंपरा। जिनकल्पी के लिए वर्ष के बारहों महीने प्रतिदिन लोच करना, अनिवार्य था। प्रतिदिन शिर और ठोडी पर हाथ फेरना और जहाँ भी कहीं कोई बाल हाथ में आये, उसे झट उखाड़ देना। इसका अर्थ है–जिनकल्पों के शिर पर कभी कोई बाल रह ही नहीं पाता था।

स्थविरकल्पी मुनि के लिए प्रतिदिन लोच का विधान नहीं था। परंतु वर्षावास में–अर्थात् चातुर्मास में उसके लिए भी प्रतिदिन लोच का विधान था। यह ठीक है कि देशकाल की बदलती परिस्थितियों के कारण आजकल यह परम्परा नहीं रही है, आज कोई भी साधु-साध्वी चातुर्मास में प्रतिदिन लोच नहीं करता है। परंतु प्राचीनकाल में यह परंपरा थी, जिसका उल्लेख प्राचीन साहित्य में आज भी उपलब्ध है। निशीथ भाष्य (3173) में लिखा है–

'धुवलोओ य जिणाणं, णिच्चं थेराण वासवासासु।'

–उडुबद्धे वासावासासु वा जिणकप्पियाणं धुवलोओ–दिने दिने कुर्वन्तीत्यर्थः। थेराण वि वासासु धुवलोओ चेव–निशीथ विशेष चूर्णि।

जो भिक्षु या भिक्षुणी तरुण होते थे, समर्थ एवं निरोग होते थे, उन्हें वर्षाकाल में तो प्रतिदिन ही लोच करना होता था, किन्तु शेष-काल में, जिसे आगम में ऋतुबद्ध काल कहा है, चार-चार महीने के अनन्तर लोच करना होता था।

–यदि समर्थस्तदा वर्षासु नित्यं लोचं कारयेत्

– कल्प० सुबोधिका 9-57

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

–'उड्डतरूणे चउमासो'[2]

निशीथ भाष्य 3213

–थेरकप्पितो तरूणो उड्डबद्धे चउण्हं मासाणं लोयं करावेंति।

–निशीथ चूर्णि।

जो साधु-साध्वी स्थविर अर्थात् वृद्ध हो जाते थे, उन्हें छह मास के अनंतर लोच करना होता था। यदि छह महीने पर भी लोच न कर सकते हों तो वर्ष में एक बार आषाढ़ पूर्णिमा के आसपास तो स्थविर को भी लोच करना ही होता था। स्थविर जराजर्जर होने के कारण असमर्थ होता है, नेत्र शक्ति भी क्षीण हो जाती है, अतः दुर्बलता एवं नेत्ररक्षा के लिए स्थविर को छूट दी गई है। इसके लिए देखिए कल्पसूत्र मूल और उसकी टीका।

'छम्मासिए लोए, संवच्छरिए[3] वा थेरकप्पे।' 9/57

–षाण्मासिको लोचः, संवच्छरिए वा थेरकप्पेति–स्थविराणां वृध्दानां जराजर्जरत्वेनाऽसामर्थ्याद् दृष्टिरक्षार्थं च सांवत्सरिको वा लोचः स्थविरकल्पे स्थितानामिति।

लोच न करने पर प्रायश्चित्त

जैन परंपरा देश, काल और व्यक्ति की स्थिति एवं परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर अग्रसर होती है। वह कोई अंध परंपरा नहीं है, जो अंधे हाथी की तरह विवेकहीन गति से दौड़ती चली जाए, इधर-उधर के अच्छे बुरे का–उचित अनुचित का कोई भान ही न रखे। जिस प्रकार अन्य क्रियाकाण्डों में उत्सर्ग अपवाद का ध्यान रखा गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत लोच के संबंध में भी सही स्थिति को ध्यान में रखा है[4]।

प्राचीन ग्रंथकारों ने कहा है कि यदि भिक्षु या भिक्षुणी समर्थ हैं, निरोग हैं, कोई आधिव्याधि नहीं है, अच्छी तरह लोच कर सकते हैं, फिर भी यदि वे लोच न करें, नाई के द्वारा उस्तरे से शिर मुण्डा लें, या कैंची से बाल कटवा लें, तो उन्हें प्रायश्चित्त आता है। प्रायश्चित्त समर्थ को आता है, असमर्थ को नहीं। यदि समर्थ होते हुए भी उस्तरे से मुण्डन कराए तो लघुमास प्रायश्चित्त आता है, और यदि कैंची से बाल कटवाए तो गुरु मास प्रायश्चित्त आता है। प्रायश्चित्त क्यों आता है, इसका स्पष्टीकरणकरते हुए कहा है कि–समर्थ को परंपरा का पालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिए। अतः लोच न करने पर एक तो परंपरा पालन न करने का दोष होता है। दूसरे यूका–जूं आदि प्राणियों की हिंसा हो सकती है। नाई अपने उस्तरा, कैंची और हाथ आदि कच्चे सचित्त जल से धोएगा तो यह पश्चात्कर्म दोष भी हो सकता है।[4]

असमर्थ के लिए अपवाद

अब प्रश्न असमर्थ का रह जाता है। प्राचीन परंपरा का जैन साहित्य इस संबंध में स्पष्ट है। वह एक ही डंडे से सबको नहीं हाँकता है। साधक एक व्यक्ति है। साधना का मूल स्रोत व्यक्ति के अपने अंदर में होता है। बाह्याचार तो केवल एक मर्यादा है, और वह अंतर्जीवन के परिपोषण एवं संवर्धन के लिए है। यदि बाह्याचार अंदर की मूल साधना का परिपोषण एवं संवर्द्धन करता है तो वह ठीक है, अन्यथा उसका कुछ मूल्य नहीं रहता है। जो आचार किसी विशेष परिस्थिति के कारण अंदर में सहर्ष स्वीकृत नहीं है, बाहर के दबाव आदि के कारण मन मार कर किया जाता है, शारीरिक स्थिति इन्कार करती है, किन्तु लोक-लज्जा आदि इकरार के लिए जोर जबर्दस्ती करते हैं, तो वह साधक के उत्थान का हेतु न होकर पतन का ही हेतु होता है। यही कारण है कि जैन धर्म की प्रज्ञाप्रधान परम्परा ने साधना के इन जटिल प्रश्नों पर अपने को बहुत सतर्क एवं जागृत रखा है। जैन परंपरा का आदर्श अहिंसा है, हिंसा नहीं। असमर्थ व्यक्ति पर समर्थ व्यक्ति के जैसे क्रियाकाण्ड का दबाव डालना, जैन दृष्टि में अहिंसा नहीं, हिंसा है – धर्म नहीं, अधर्म है। अतएव जैन दर्शन ने उत्सर्ग और अपवाद की एक लंबी चर्चा की है। प्रत्येक क्रियाकांड को साधना तुला के इन दो पलड़ों से तोला है। जीवन की सामान्य स्थिति उत्सर्ग है और विशेष परिस्थिति अपवाद है। जो धर्म व्यक्ति की सामान्य एवं विशेष स्थिति का विवेक नहीं रखता, आँख बंद कर सबको एक ही हाथ से धकेलता रहता है, वह कैसा धर्माचार, कैसा शासन?

अतएव केशलोच के संबंध में कहा गया है कि समर्थ को अवश्य लोच करना चाहिए। क्योंकि लोच न होने पर शिर के सघन केश इधर–उधर आते–जाते वर्षा में भींग सकते हैं, उससे अप्काय की विराधना–हिंसा होने की संभावना है। पानी के संसर्ग से मैल होने के कारण जूं आदि जीव पैदा हो सकते हैं, और खुजलाने पर उनकी हिंसा हो सकती है, खुजलाने से शिर में नखक्षत भी हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं—आदि आदि। परंतु यदि साधक असमर्थ है, लोच उसे असह्य है, तथा शिर में कोई रोग है, मंद चक्षु है—अर्थात् नेत्रों की ज्योति क्षीण है, या क्षीण होने की संभावना है, बीमार है - दुर्बलता के कारण लोच नहीं हो सकता है, अथवा दुर्बल स्थिति में लोच करने पर ज्वर आदि होने की संभावना हो, दीक्षित यदि बालक हो—लोच करने पर रोने लगता हो, तो ऐसी स्थिति में लोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि बलात् लोच की क्रिया में धर्म भ्रष्ट होने की संभावना है। अतः प्राचीन जैन दर्शन का अभिमत है कि लोच-जैसे एक कायक्लेश तप के लिए साधक को अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत रूप मौलिक धर्मसाधना से भ्रष्ट कर देना, कोई अच्छी बात नहीं है। इसलिए कल्पसूत्र आदि प्राचीन ग्रंथों में कहा है, कि यदि भिक्षु लोच करने में समर्थ नहीं है और वर्षावास की आषाढ़ी पूर्णिमा आ जाए तो क्या करना चाहिए? असमर्थ को भी यह रात्रि नहीं लांघनी है। वर्षा में शिर पर केश नहीं रहने चाहिए। अतः ग्लान—बीमार या बालक आदि असमर्थ को उस्तरे से शिर मुंडा लेना चाहिए, या कैंची से बाल कटवा लेने चाहिए। असमर्थ यदि ऐसा करता है तो कोई आपत्ति नहीं है। यह अपवाद मार्ग है। अपवाद में प्रायश्चित्त भी नहीं होता है। प्रायश्चित्त **'दप्पिया प्रतिसेवना'** का होता है, **'कप्पिया प्रतिसेवना'** का नहीं। इसके लिए निशीथ भाष्य, व्यवहार भाष्य एवं बृहत्कल्प भाष्य आदि सुप्रसिद्ध प्राचीन आचार ग्रंथ देखे जा सकते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ लिखा गया है, उसके लिए मूल प्रमाण इस प्रकार हैं—

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवायणावित्तए। अज्जेणं खुरमुंडेणं वा लुंक्कसिरएणं वा होयव्वं सिया.....

—कल्पसूत्र 9-57

—पर्युषणातः परम्-आषाढ़ चातुर्मासकादनंतरं गोलोमप्रमाणा अपि केशा न स्थापनीया, आस्तां दीर्घाः .... असमर्थोऽपि तां रात्रिं नोल्लंघयेत्....

केशेषु हि अप्कायविराधना, तत्संसर्गाच्च यूकाः संमूर्च्छन्ति, तत कण्डूयमानो हन्ति, शिरसि नखक्षतं वा स्यात्....

यदि चासहिष्णुर्लोचे कृते ज्वरादिर्वा स्यात्, कस्याचित् बालो वा रूद्याद्, धर्मं वा त्यजेत्, ततो न तस्य लोचः, इत्याह अज्जेणं खुरमुंडेणं वा...

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्तु क्षुरेणाऽपि कारयितुमसमर्थो व्रणादिमच्छिरा वा तस्य केशाः कर्तर्य्या कल्पनीयाः ....।

कल्पसूत्र सुबोधिका 9-57

अपवादतो ग्लानादिना क्षुरमुण्डनेन उत्सर्गतो लुंचिताशिरोजेन इत्यर्थः।

–कल्पलता 9-57

अपवाद के संबंध में कल्पसूत्र के निर्माता चतुर्दशपूर्वी, श्रुतकेवली आचार्यदेव भद्रबाहु स्वामी का उल्लेख ऊपर किया है। मूल पाठ के स्पष्टीकरण के लिए कल्पसूत्र की सुबोधिका और कल्पलता नामक सुप्रसिद्ध टीकाओं के उद्धरण भी दिए हैं। टीकाकारों ने वर्षाकाल में लोच करने के हेतुओं का, तथा लोच न करने के अपवादों का जो उल्लेख किया है, वह उनका अपना मनगढ़ंत नहीं है। जैन वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निशीथभाष्य और उसकी विशेष चूर्णि के आधार पर ही टीकाओं का उक्त विवेचन है। प्रमाण स्वरूप भाष्य और चूर्णि का पाठ देखना हो तो वह इस प्रकार है–

वासासु लोमए अकज्जंते इमे दोसा-
णिसुढंते आउबधो, उल्लेसु, य छुप्पदीउ मुच्छंति।
ता कंडूय विराहे, कुज्जा व खय तु आयाते।।

–निशीथ भाष्य, 3212

आउक्काए णिसुढंते आउविराहणा, उल्लेसु य बालेसु छप्पयाओ समुच्छंति, कंडुअंतो वा छप्पदादि विराहेति, कंडुअंतो वा खयं करेज्जा–तत्थ आय–विराहणा

–निशीथ विशेष चूर्णि

कत्तरि-छुर-लोए वा, वितियं असहु गिलाणे य।

–निशीथ भाष्य 3214

–वितियपदेणं लोयं न कारवेज्जा। असहू लोयं न तरति अधियासेउ सिरोरोगेण वा, मंदचक्खुणा वा लोयं असहंतो धम्मं छड्डेज्जा। गिलाणस्स वा लोओ कज्जति, लोए वा करेंते गिलाणो हवेज्ज।

–विशेष चूर्णि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्युषण कब और क्यों?

पर्युषण के समय जो लोच किया जाता है, वह कब करना चाहिए? यह प्रश्न गहराई से विचार करने जैसा है। बात यह है कि आजकल जो परंपरा है वह और है, और प्राचीन काल में जो परम्परा थी वह कुछ और थी। मनुष्य वर्तमान काल में जिस परंपरा का पालन करता है, वह उससे इतना चिपट जाता है कि अतीत की परंपरा को भूल जाता है। वर्तमान परंपरा को ही अनादि काल की परंपरा समझने लगता है। यदि कोई उससे भिन्न कुछ कहता है या करता है, तो वह सत्य की मूल स्थिति को समझने एवं स्वीकार करने से इन्कार कर देता है, और व्यर्थ ही लड़ने-झगड़ने को तैयार हो जाता है।

लोच कब करना चाहिए, इससे पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि पर्युषण कब करना चाहिए? पर्युषण के काल पर ही पर्युषण संबंधी लोच का काल आधारित है। आजकल की मान्यता के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा से एक मास बीस रात्रि बीत जाने पर भादवा सुदी पंचमी को पुर्यषण (संवत्सरी) किया जाता है। परंतु यह अपवाद है, उत्सर्ग नहीं। **प्राचीन काल में पर्युषण आषाढ़ पूर्णिमा को होता था।** पर्युषण का मूल अर्थ वर्षावास है। वर्षावास का अर्थ है–वर्षा में आवास करना, एक स्थान पर रहना। निशीथ भाष्य में पज्जोसवणा के जो आठ पर्यायवाचक नाम दिए हैं, उनमें एक 'वर्षावास' पर्याय भी है। समवायांग सूत्र के 70 वें समवाय में भी पर्युषण के लिए **'वासावासं पज्जोसवेइ'** पाठ है। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि पर्युषण वर्षावास है। मंगसिर बदी प्रतिपदा के दिन से आठ मास विहार चर्या में भ्रमण करने के बाद चार महीने तक वर्षावास के लिए, जैनभिक्षु, आषाढ़ पूर्णिमा को एक स्थान पर ठहर जाता है। वर्षाकाल में प्राय: निरंतर घटाएँ छायीं रहती हैं, जब तब पानी बरसता रहता है, इधर-उधर आने-जाने के पथ खराब हो जाते हैं, पथ में नदी और नाले उमड़ पड़ते हैं, हरितकाय मैदानों और मार्गों में फैल जाता है, जीवजंतु बहुत पैदा हो जाते हैं, अत: पर-विराधना एवं आत्म-विराधना से बचने के लिए वर्षाकाल में भिक्षु के लिए एकत्र वास का विधान किया गया है। वर्षा यदि जल्दी शुरू हो जाए तो पहले भी आकर ठहर सकता है, आषाढ़ पूर्णिमा को तो ठहर ही जाना चाहिए। यह पर्युषण का उत्सर्ग नियम है।

पर्युषण अर्थात् संवत्सरी पर्व वार्षिक प्रतिक्रमण का दिन है। वर्ष का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ ही है, वर्षा। अतः पर्युषण आषाढ़ पूर्णिमा का शास्त्र सम्मत है। जैन परंपरा के जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा वर्ष का अंतिम दिन है और श्रावण वदी प्रतिपदा नये वर्ष का प्रथम दिन है। भादवा सुदी पंचमी को किस शास्त्र के अनुसार कौन-सा वर्ष पूरा होता है? कोई नहीं। दिन पूरा होने तक दैवसिक, रात्रि पूरी होने पर रात्रिक, पक्ष पूरा होने पर पाक्षिक, चार मास पूरे होने पर कार्तिक पूर्णिमा आदि को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है। इसी प्रकार संवत्सर अर्थात् वर्ष पूरा होने पर संवत्सरी प्रतिक्रमण किया जाता है। और जैन परंपरा के अनुसार वर्ष पूरा होता है-आषाढ़ पूर्णिमा को। अतः यही दिन पर्युषण का, संवत्सरी का तथा संवत्सरी-प्रतिक्रमण का है।

निशीथ भाष्य (3216-17) की चूर्णि करते हुए आचार्य जिनदास गणी ने स्पष्ट कहा है कि पर्युषण पर्व में वार्षिक आलोचना होनी चाहिए। उस समय किया जानेवाला अष्टम (तेला) तप, उपवास की अक्षमता, रोग तथा सेवा आदि से संबंधित अपवाद स्थिति को छोड़कर उत्सर्गतः अवश्य एवं अनिवार्य कर्तव्य है। यह वर्षाकाल के प्रारंभ में मंगल रूप होता है।[6] उक्त भाष्य (3208) की ही चूर्णि में अन्यत्र लिखा है कि '**वरिसंते उववासो कायव्वो**'-अर्थात् वर्ष के अंत में अवश्य उपवास करना चाहिए। निशीथ भाष्य (3153) में शब्दशः उल्लेख है-'**आसाढ़ी पूण्णिमोसवणा**।' उक्त भाष्य की चूर्णि में लिखा है-आषाढ़ पूर्णिमा को पर्युषण करना, उत्सर्ग सिद्धांत है-'**आसाढ़पुण्णिमाए पज्जोसवेति**, एस उस्सग्गो'। इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन काल में पर्युषण आषाढ़ पूर्णिमा को ही किया जाता था।

अब प्रश्न है कि कल्पसूत्र और समवायांग में '**सवीसइराए मासे वइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ**' जो पाठ है, वह क्या है? वह पाठ तो कहता है कि आषाढ़ पूर्णिमा से एक महीना और बीस रात्रि बीतने पर पर्युषण करना चाहिए, जैसा कि आजकल किया जाता है। उक्त शंका के समाधान में कहना है कि यह उल्लेख अपवाद स्थिति का है। आषाढ़ पूर्णिमा के दिन यदि चातुर्मास के लिए मकान ठीक तरह का मिल जाए, जो ऊपर से छाया हुआ हो, लिपा हुआ हो, टपकता न हो, जल निकालने के लिए नाली आदि की व्यवस्था ठीक हो। गृहस्थ ने पहले से ही अपने लिए मकान को वर्षाकाल में रहने के योग्य तैयार कर रखा हो, तो भिक्षु उसी दिन अपना वर्षावास घोषित कर दे कि मैं यहाँ चार महीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहूँगा, वर्षाकाल व्यतीत करूँगा। यदि उस दिन ऐसा मकान न मिले, तो वर्षावास की घोषणा न करे, क्योंकि फिर गृहस्थ सोचेगा कि साधु जी यहाँ रह गए हैं, अतः इस मकान को ठीक-ठाक कर लें। गृहस्थ साधु के निमित्त मकान की लिपाई-पुताई आदि का आरंभ करेगा, तो वह साधु के लिए औद्देशिक होगा, फलतः साधु को दोष लगेगा। इसलिए पर्युषण की, अर्थात् वर्षावास की घोषणा न करे, और इस बीच उसी क्षेत्र में या आसपास के अन्य क्षेत्र में किसी अच्छे व्यवस्थित मकान की तलाश में रहे। यदि इस बीच मकान मिल जाए तो श्रावण वदी पंचमी को, फिर श्रावण वदी दशमी को, फिर पाँच दिन बाद अमावस्या को पर्युषण करे। तब भी यदि न मिले, तो फिर पाँच-पाँच दिन की वृद्धि करते हुए अंत में पचास दिन के बाद भादवा सुदी पंचमी को तो अवश्य ही पर्युषण कर लेना चाहिए। मकान न मिले तो वृक्ष के नीचे ही शेष वर्षावास बिता देना चाहिए, क्योंकि तब वर्षा कम हो जाती है, अतः वृक्ष के नीचे भी अच्छी तरह रहा जा सकता है।

कल्पसूत्र में उल्लिखित एक महीना बीस रात्रि वाले पर्युषण संबंधी अपवाद का स्पष्टीकरण करते हुए कल्पसूत्र के ही समाचारी प्रकरण के निम्नोक्त पाठ में लिखा है, जिसका कि मैंने ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया है:

'जओणं पाएणं अगारिणं अगरायं कडियाइं उक्कंपियाइं, छन्नाइं, लित्ताइं, गुत्ताइं, घुट्टाइं, मट्ठाइं, संपधूमियाइं, खाओदगाइं, खायनिद्धमणाइं, अप्पणो अट्ठाए कडाइं, परिभुत्ताइं परिणामियाइं भवन्ति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ....'

—कल्पसूत्र 9 । 2

निशीथ सूत्र की प्राचीन विशेष चूर्णि (315) में यही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। — सेसकालं पज्जोसर्वेताणं अववातो। अववाते वि सवीसति रातिमासातो परेण अतिक्कमेउं ण वट्टति। सवीसतिरातिमासे पुण्णे जति वासखेत्तं ण लब्भति, तो रुक्खहेट्ठा वि पज्जोसवेयव्वं। तं च पुण्णिमाए पंचमीए दसमीए एवमादिपव्वेसु पज्जोसवेयव्वं, णो अपव्वेसु।

अर्थात् आषाढ़ पूर्णिमा के अतिरिक्त शेषकाल में पर्युषण करना, अपवाद है। और यह अपवाद भी एक महीना और बीस रात्रि के काल को अतिक्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला न होना चाहिए। इस काल सीमा के बाद तो यदि योग्य वासक्षेत्र न भी मिले, तब भी वृक्ष के नीचे ही पर्युषण कर लेना चाहिए।

आचार्य अभयदेव ने स्थानांग सूत्र की अपनी टीका में भी पर्युषण का यही भाव सूचित किया है। पर्युषण वर्षकल्प है, उसमें ऋतुबद्ध अर्थात् शेषकाल से सम्बन्धित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादाओं का परित्याग कर वर्षा योग्य मर्यादाओं को अपनाना चाहिए। यदि कोई विशिष्ट कारण हो तो वर्षावास का उत्कृष्ट काल छह महीने का हो सकता है, और अपवाद की स्थिति में वर्षावास का जघन्य काल भादवा सुदी छठ से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक 70 दिन का होता है। संक्षेप में उक्त भावना नीचे के टीका-पाठ में देखी जा सकती है।

"पर्याया ऋतुबद्धिका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-सम्बन्धित उत्सृज्यन्ते उज्झयन्ते यस्यां सा निरुक्तविधिना पर्योसवना।"

"अथवा परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तति विनानि, उत्कृष्टतः षण्मासान् वसनं, निरुक्तादेव पर्युषणा। तस्याः कल्प आचारो मर्यादेत्यर्थः।"

—स्थानांग टीका, दशमस्थान

समवायांग सूत्र में पर्युषण से सम्बन्धित जो पाठ है, वह 70 वें समवाय में है 50 वें में नहीं। उस पाठ में कहा है कि वर्षावास के एक महीना और बीस रात्रि बीतने पर, तथा 70 दिन शेष रहने पर पर्युषण करना चाहिए, वर्षावास में स्थित रहना चाहिए।

समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कंते सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहि वासावासं पज्जोसवेइ।

—समवायांग 70 समवाय

समवायांग सूत्र का उक्त सूत्र अपवाद सूत्र है। पूर्वार्ध का एक महीना वीस रात्रि वाला अंश मुख्य नहीं है, अगला सत्तर दिन शेष रहने का अंश ही मुख्य है, यही कारण है कि यह सूत्र 50 वें समवाय में न देकर 70 वें समवाय में दिया है। इसका अर्थ है कि विशेष परिस्थिति में, अपवाद में वर्षावास अर्थात् चातुर्मास का कम-से-कम जघन्य काल 70 दिन का है। इसी भाव को आचार्य अभयदेव ने समवायांग की टीका में "पञ्चाशति प्राक्तनेषु दिवसेषु तथाविध-वसत्यभावादिकारणे स्थानान्तरमप्याश्रयति, भाद्रपद शुक्ल पचम्यां तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृक्षमूलादावपि निवसतीति हृदयम्।" आदि के द्वारा स्पष्ट किया है और स्थानांग की टीका में 'एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्ततिदिनानि.....वसनं' के द्वारा जघन्य वर्षावास 70 दिन का बताकर अपवाद स्थिति का उल्लेख किया है। स्थानांग सूत्र के गुजराथी तथा हिन्दी टब्बों में भी यही वर्णन है।

मैं यहाँ अधिक विस्तार में नहीं जाना चाहता। इतने पर से ही विचारशील पाठक समझ सकते है कि पर्युषण की वास्तविक स्थिति क्या है? वह कब करना चाहिए और क्यों करना चाहिए? समान्यतः वह आषाढ़ पूर्णिमा को होना चाहिए। यह उत्सर्ग है। यदि वर्षा में रहने के योग्य उचित क्षेत्र व मकान आदि की व्यवस्था न हो, जैसा कि पहले स्पष्टीकरण कर आए हैं, तब पाँच-पाँच दिन की वृद्धि करते हुए अन्त में एक महीना बीस रात्रि के बाद पर्युषण करना, वर्षावास की निश्चित स्थापना करना, आवश्यक है। यह अपवाद है। पाठक देख सकते हैं, यह प्राचीन परम्परा कुछ समय से किस प्रकार उलट गई है। आज अपवाद उत्सर्ग हो गया है। आषाढ़ पूर्णिमा के दिन पर्युषण की बात चौका देने वाली है। जिसने कभी प्राचीन साहित्य का तटस्थ अध्ययन नहीं किया है वह तो यह सब पढ़कर बौखला ही जाएगा, क्योंकि उसे यह पता नहीं कि हम पहले क्या करते थे? और उस शुद्ध परम्परा को छोड़कर अब क्या कर रहे हैं? यही कारण है कि आज जब कभी चातुर्मास में श्रावण या भादवे का महीना बढ़ता है, तो संघ में तूफान आ जाता है। अपनी-अपनी परम्परा की प्रचलित मान्यताओं को लेकर एक बेतुका शोर मचने लगता है और अपने को शास्त्र मर्यादा के अनुकूल तथा दूसरों को उसके प्रतिकूल बताने की होड़ लग जाती है। बहुतों का तो धर्म ही खतरे में पड़ जाता है। संघ संगठन की दृष्टि से यदि कोई एक मान्यता प्रस्तावित हो जाती है तो उसे भी तोड़ने को तैयार हो जाते हैं, और इसके लिए कहते हैं कि यदि हमने अपनी पुरानी शास्त्रीय परम्परा के अनुसार पुर्यषण नहीं किया तो हम भगवान की आज्ञा के विराधक हो जाएँगे, हमें प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा।

मैं उन सब महानुभावों के समक्ष एक नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि आप भूल में हैं। यदि आप बदलती हुई नयी परम्पराओं को मानने के लिए तैयार नहीं हैं, केवल प्राचीन परम्पराओं के ही पक्षधर हैं, तो प्राचीन परंपरा आप सबके लिए गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान करती है। बात जरा कड़वी है, पर सत्य के लिए सिद्धान्त की मूल स्थिति को तो स्पष्ट करना ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निशीथ सूत्र में कहा है कि जो भिक्षु अपर्युषणा में पर्युषणा स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है, अथवा अनुमोदन करता है उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसी प्रकार जो पर्युषण के विहित काल में पर्युषणा स्वयं नहीं करता है, न दूसरों से करवाता है, और पर्युषण न करने वालों का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। मूल-पाठ इस प्रकार है:-

जे भिक्खू अपज्जोसवणाएँ पज्जोसवेति, पज्जोसवेंतं वा सातिज्जति।

−10 । 42

जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ, ण पज्जोसवेंतं वा सातिज्जति।

−10 । 43

पर्युषण का उत्सर्ग काल आषाढ़ पूर्णिमा है। वर्षावास के योग्य शुद्ध क्षेत्र एवं मकान आदि मिल जाए तो आषाढ़ पूर्णिमा को ही पर्युषण करना चाहिए। यदि कभी ऐसा योग्य क्षेत्र एवं मकान आदि न मिले तो अन्ततोगत्वा अपवाद स्थिति में नौ महीने बीस रात्रि का विहारकाल पूर्ण करके भादवा सुदी पंचमी को तो पर्युषण कर ही लेना चाहिए।[7] इस से आगे नहीं जाना चाहिए। कल्प सूत्र के समाचारी प्रकरण में इसी लिए कहा है-

अन्तरा वि य से कप्पइ, नो से कप्पइ तं रयणिं उवाइणावित्तए- 9 । 8

अब प्रश्न यह है कि जब आजकल आरंभ में आषाढ़ पूर्णिमा के दिन ही सिद्धान्तानुसार चातुर्मास के योग्य क्षेत्र मिल जाते हैं, उपाश्रय आदि के रूप में मकान भी पक्के, साफ-सुथरे व्यवस्थित प्राप्त हो जाते हैं, अन्य भी कोई कारण नहीं होता कि जिसके लिए अपवाद का सेवन किया जाए, तो व्यर्थ ही अपवाद सेवन का दोषाचरण क्यों किया जाता है? कारणवश अपवाद का सेवन करना पड़े, तो प्रायश्चित्त नहीं होता। परन्तु यदि कोई बिना कारण अपवाद का सेवन करता है तो वह प्रायश्चित का भागी होता है। उक्त विवेचन पर से स्पष्ट है कि आजकल सूत्रोक्त प्राचीन परंपरा के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा को पर्युषण न करके भादवा सुदी पंचमी को जो पर्युषण किया जाता है, वह न उत्सर्ग है, और न अपवाद है। साधना के दो ही मार्ग हैं-उत्सर्ग और अपवाद। दो के अतिरिक्त जो भी मार्ग हैं, वह मार्ग नहीं; उन्मार्ग है। पथ नहीं, कुपथ है। अतः उत्सर्ग और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवाद दोनों मार्गों से दूर शास्त्र एवं परंपरा से निषिद्ध अमार्ग पर जाने वाले स्पष्ट ही प्रायश्चित्त के भागी हैं। क्या मैं आशा करूँ कि प्राचीन परंपरा के पक्षधर अपनी वर्तमान अशास्त्रीय परंपरा का मोह त्याग कर आषाढ़ पूर्णिमा के पर्युषण पर्व का सैद्धान्तिक पक्ष अपनाएँगे।

पर्युषण पर लोच कब और क्यों?

पर्युषण पर्व से सम्बन्धित लोच कब करना चाहिए और क्यों? उक्त प्रश्न पर हम प्रारंभ में ही विस्तार से चर्चा कर आए हैं। यहा संक्षेप में यह कहना है कि जब पर्युषण हो, तभी पर्युषण से सम्बन्धित केश लोच भी करना चाहिए। पर्युषण उत्सर्ग से आषाढ़ पूर्णिमा का शास्त्र एवं प्राचीन परंपरा से सिद्ध है, अतः केशलोच भी आषाढ़ पूर्णिमा के वर्षान्त प्रतिक्रमण से पहले ही करना सिद्ध है। कल्पसूत्र के मूल पाठ का स्पष्टीकरण करते हुए सुबोधिका में साफ लिखा है कि पर्युषण से अर्थात् आषाढ़ चातुर्मासी के अनन्तर भिक्षु को लंबे केश तो क्या, गोलोम प्रमाण छोटे केश भी नहीं रखने चाहिए। हेतु वही अप्काय की विराध ना का है, ज्वर आदि की उत्पत्ति का है, शिर खुजलाते समय यूका आदि की हिंसा एवं अपने नखक्षत आदि हो जाने की संभावना है।

पर्युषणातः परमाषाढ़चतुर्मासकादनन्तरं गोलोमप्रमाणा अपि केशा न स्थापनीयाः।

—कल्पसूत्र सुबोधिका 9 । 57

अपकाय विराधना आदि का टीका पाठ पहले लिखा जा चुका है। निशीथ सूत्र की विशेष चूर्णि में भी केशलोच की हेतुकता के लिए अप्काय विराधना आदि का ही उल्लेख है—**आउक्काइयविराहणाभया संसज्जणभया य वासासु धुवलोओ कज्जति**—3173। वर्षा के कारण लंबे केशों के भींग जाने पर अप्काय आदि की विराधना होती है, अतः वर्षावास में—चौमास में भिक्षुओं को प्रतिदिन लोच करना चाहिए। यदि रोगादि कारणवश लोच न हो सके तो अपवाद में क्षुरमुंडन तथा कर्तरी मुंडन कराना चाहिए। क्षुरमुंडन कराए तो महीने-महीने के अनन्तर कराना चाहिए, और, यदि कर्तरी मुंडन कराए तो अर्धमास अर्थात् पंदरह-पंदरह दिन के अन्तर से कराते रहना चाहिए। इसके लिए कल्प-सूत्र का मूल पाठ दृष्टव्य है—**मासिए खुरमुंडे, अद्धमासिए कत्तरीमुंडे**—9157। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने लोच न करने पर अपवाद में जो क्षुरमुंडन आदि का विधान किया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह स्पष्ट सूचना देता है कि केश लोच आषाढ़ पूर्णिमा के दिन से ही प्रतिदिन प्रारंभ कर देना चाहिए। यदि अशक्त भिक्षु लोच न कर सके तो उसे क्षुरमुंडन आदि ही करा लेना चाहिए। अपवाद स्थिति को छोड़कर आषाढ़ पूर्णिमा के प्रतिक्रमण से पहले शिर पर बाल, किसी भी हालत में नहीं रहने चाहिए। यदि कोई रखता है तो वह निशीथ सूत्र के अनुसार गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[8]

वर्तमान परंपरा उपर्युक्त प्राचीन परंपरा के सर्वथा विपरीत है। अब तो वर्षा के भरे पूरे महीने (श्रावण और भादवा) शिर पर सघन बालों को रखे हुए ही बीत जाते हैं, वर्षा का पानी बालों में पड़ता रहता है और अप्काय आदि की विराधना चालू रहती है, और उक्त दोषों के कारण निशीथ सूत्रानुसार प्रायश्चित्त का प्रसंग उपस्थित रहता है और जब वर्षा का मौसम समाप्त होने को होता है, तब लोच किया जाता है। कितनी बड़ी असंगति है इसमें ! वर्तमान परंपरा तो पर्युषण सम्बन्धी लोच के मूल उद्देश्य एवं आधार को ही समाप्त कर देती है। जब प्राचीन ग्रन्थों की परंपरा के अनुसार लोच का हेतु ही नहीं रहा, तब असमय में लोच करने का क्या अर्थ रह जाता है? देशकालानुसार बदलती हुई छोटी-मोटी नगण्य बातों के विरोध में शास्त्र तथा प्राचीन परंपरा के नाम पर क्षुब्ध होने वाले हमारे परम्परा भीरु मुनिराजों को चाहिए कि वे पक्षातीत हृदय से उपर्युक्त शास्त्रविहित प्राचीन परंपरा को अपनाएँ, और अपनी चिरागत भूल का शास्त्रमर्यादा के प्रकाश में उचित संशोधन करें।

लोच न करने पर क्या साधुता नहीं रहती?

साधना के दो रूप हैं—एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। निश्चय अन्तर् की स्थिति है और वह वीतरागता और समभाव। मूल साधन यही है। व्यवहार बाहर के नियमोपनियम हैं, संघीय व्यवस्थाएँ हैं। निश्चय नहीं बदलता, व्यवहार बदलता रहता है। व्यवहार का आधार देश है, काल है, व्यक्ति है और व्यक्ति की परिस्थिति है। देश, काल आदि शाश्वत नहीं हैं, बदलते रहते हैं। और जब ये बदलते हैं, तो इनके आधार पर गठित व्यवहार भी बदल जाता है। लोच निश्चय नहीं, व्यवहार है। यह अमुक स्थितियों में की गई संघीय व्यवस्था बहुत प्राचीन है। सबके लिए परिपालन करने योग्य है। परन्तु किसी साधक की शारीरिक स्थिति अनुकूल नहीं है, वह लोच या क्षुरमुंडन आदि कराने की भी स्थिति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है, या अन्य कोई विशिष्ट कारण है, तो लोच नहीं भी किया जा सकता है। उक्त अपवाद की स्थिति में अन्तरंग की साधुता, जो वीतराग भावना पर आधारित है, नष्ट नहीं हो जाती। यह नहीं कि लोच न करने पर साधु अपने छठे गुण स्थान आदि की साधुत्व-भूमिका से नीचे गिर जाए।

मुनि दीक्षा से पहले लोच करना आवश्यक है प्रचलित संघीय व्यवस्था में। परन्तु भरत चक्रवर्ती और माता मरुदेवी आदि जब गुणस्थानों की विकास भूमिका पर अग्रसर हुए तो उन्हें बिना लोच किए ही साधुत्व की भूमिका प्राप्त हुई और केवलज्ञान भी प्राप्त हुआ। बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान में खड़े रहे, उन्होंने पर्युषण काल में या अन्य काल में कहाँ लोच किया? भगवान महावीर आदि जब ध्यानमुद्रा में होते थे, तो कहाँ लोच करते थे? स्थूलभद्र के युग में सिंह गुफावासी आदि मुनि, जो वर्षावास ध्यानावस्थित रहे, उन्होंने कब लोच किया? भगवान् ऋषभदेव ने जब दीक्षा ली तो पंचमुष्टि लोच की जगह चतुर्मुष्टि लोच किया और मस्तक पर एक खासी अच्छी लम्बी शिखा रहने दी। यह कैसे हुआ? यदि लोच का रूप ऐकान्तिक एकरूपता का ही होता तो भगवान् ऐसा नहीं कर सकते थे। कल्पसूत्र में वह उल्लेख आज भी उपलब्ध है–'सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ–9 ऋषभ चरित्राधिकार। भगवान् महावीर ने पंचमुष्टि के रूप में पूर्ण केश लोच किया है, जबकि भगवान् ऋषभदेव ने पूर्ण केश लोच नहीं किया। यह भेद स्पष्ट बताता है कि लोच का सम्बन्ध जितना बदलती हुई संघीय व्यवस्था से है, उतना आध्यात्मिक सनातन साधना से नहीं। अतः परिस्थिति विशेष में यदि कोई लोच नहीं कर सकता है तो इस का यह अर्थ नहीं कि वह साधुत्व भाव से भ्रष्ट हो जाता है। जो दर्शन गृहस्थ जीवन में भी भावविशुद्धि का प्रकर्ष होते ही कैवल्य एवं निर्वाण होने की स्थापना करता है, बन्धन मुक्त होने की बात कहता है, वह यह कैसे कह सकता है कि लोच के बिना धर्म नहीं हो सकता, आत्मविशुद्धि नहीं हो सकती। साधुत्व नहीं रह सकता। जैनधर्म में भाव महान् है, द्रव्य नहीं, अंतरंग महान् है, बहिरंग नहीं। संघ परंपरा की दृष्टि से लोच का महत्त्व है। यदि कोई विशिष्ट कारण न हो तो वह समय पर अवश्य करणीय है। कब और किस स्थिति में करणीय है, और क्यों करणीय है? कब और किस परिस्थिति में अकरणीय है? इस पर प्रस्तुत लेख में तटस्थ दृष्टि से विचार चर्चा उपस्थित की गई है। आशा है, सुधी जन इस पर अनाग्रह भाव से मुक्त चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने की दिशा में अग्रसर होंगे तथा पुरानी और नयी परम्परा की विभेदरेखा का स्पष्ट विश्लेषण करेंगे।

संदर्भ :-

1. केसलोओ य दारूणो —उत्तराध्ययन 19/33
2. तरूणानां चातुर्मासिक इति— —कल्पसूत्र-सुबोधिका 9/57
3. संवच्छरो वर्षारात्रः —समय सुंदरीय कल्पलता
4. (क) जत्ति उड्डबद्धे वासासु वा खुरेण कारवेंति तो—मासलहुँ, कत्तीए मासगुरूं। आणादियाण दोसा, छप्पतिगाण विराहणा, पच्छकम्मदोसा य।

   —निशीथ विशेष चूर्णि-गा. 3213
5. पज्जोसवणा य वासवासो य —नि. भा. 3139
6. पव्वेसु तव करेंतस्स इमो गुणो भवति.... उत्तरगुणकरणं कतं भवति, एगग्गया य कता भवति, पज्जोसवणासु वरिसिया आलोयणा दायव्वा, वरिसाकालस्स य आदीए मंगलं कतं भवति। सड्ढाण य धम्मकहा कायव्वा। पज्जोसवणाए जइ अट्ठम ण करेइ तो चउगुरूं......

   वितियं अववादेण ण करेज्जपि - उपवासस्स असहू ण करेज्ज, गिलाणो वा न करेज्जा, गिलाणपडिचरणो वा, सो उपवासं वेयाच्चं च दो विकाउं असमत्थो एवमादिएहिं कारणेहिं पज्जोसवणाए आहारंतो सुद्धो।
7. वासाखेत्तालंभे —निशीथ भाष्य 3146

   आसाढ़े सुद्ध वासासवासपाउग्गं खेत्तं मग्गतेहिं ण लद्धं ताव जाव आसाढ़ चउम्मासातो परतो सवीसतिराते मासे अतिक्कंते लद्धं ताहे भद्दवया जोण्हस्स पंचमीए पज्जोसवंति एवं णवमासा सवीसतिराता विहरणकालो दिट्ठो —विशेष चूर्णि
8. जेभिक्खू पज्जोसवणाए गोलोमाईपि बालाइं उवाइणावेइ, उवाइणावेंत वा सातिज्जति।

   —निशीथ सूत्र 10 । 44
9. भगवान् ऋषभदेव ने अपने हाथों चतुर्मुष्टि लोच किया। यहाँ चतुर्मुष्टि से अभिप्राय यह है कि शिर के पांच भाग हैं, चार तो आगे-पीछे अगल-बगल आदि चारों दिशाओं में और एक बीच में। भगवान् ऋषभदेव ने चारों ओर से तो लोच कर लिया, किन्तु बीच के भाग का लोच नहीं किया, शिखा रहने दी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org